धर्म, आतंक और समाज

प्रफुल्ल कोलख्यान

'... जनता की राय को संगठित किये बिना आतंकवाद को नष्ट नहीं किया जा सकता। आतंकवाद का मूल कारण है बेकारी। अगर वह (सरकार) सच्चे हृदय चाहती है कि आतंकवाद नष्ट हो जाय, तो जितनी जल्दी हो सके उसे उनकी (युवकों की) बेकारी का इलाज करना चाहिए। आतंकवाद को दूर करने का यही सच्चा मार्ग है।' - प्रेमचंद

धर्म, आतंक और समाज सभ्यता के आंतरिक आयाम हैं। इनके अंतस्संबंध को सभ्यता के भीतर से ही समझा जा सकता है। सभ्यता मानवीय निर्मिति है। मनुष्य के स्वभाव में गतिशीलता होती है। इसलिए सभ्यता में भी एक प्रकार की आत्म-गत्यात्मकता होती है। सभ्यता-विकास की मोटी रेखाओं को देखने से इस आत्म-गत्यात्मकता के परिपथ को समझा जा सकता है। सभ्यता की आत्म-गत्यात्मकता के परिपथ को मानवीय चरित के विभिन्न निर्मायक कारकों की अंतर्क्रियाओं से बल प्राप्त होता रहता है। इन अंतर्क्रियाओं में भय, प्रेम, आत्म-रक्षा, सुख, श्रेष्ठता, सामूहिकता, आधिकारिता, वर्चस्व, अर्थसंचरण, सहबद्धता, आत्म-प्रसार, आत्म-संकोचन, समूहन, भाषा जैसे कतिपय कारक एक साथ सक्रिय रहते हैं। ये कारक मनुष्य की वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों से संबंद्ध होते हैं। ये वैयक्तिक और सामाजिक प्रवृत्तियों को दर्शानेवाले और नियंत्रित करनेवाले कारक हैं। इन विभिन्न कारकों की अंतर्वस्तुओं को धारण करनेवाले ढाँचे भी विभिन्न होते हैं। सभ्यता की आत्म-गत्यात्मकता के प्रभावी संदर्भों से इन अंतर्वस्तुओं की आवाजाही भिन्न ढाँचों में भी जारी रहती है। आवाजाही की प्रक्रिया में इन कारकों की अंतर्वस्तुओं और ढाँचों का सम्मिश्रण होता रहता है। यह सम्मिश्रण भौतिक और रासायनिक दोनों ही

प्रकार का होता है। अर्थात कई बार मिश्रित कारकों की पहचान सहज की जा सकती है, उन्हें फिर से अलगाया भी जा सकता है तो कई बार मिश्रित कारकों की न पहचान सहज रूप से की जा सकती है, न इन्हें फिर से अलगाया ही जा सकता है। कई बार यह भी होता है कि कुछ कारकों के ढाँचे तो जस के तस रह जाते हैं और उनकी अंतर्वस्तुएँ पूर्णत: या अंशत: किसी या किन्हीं अन्य कारकों के ढाँचों में अंतरित हो जाती हैं। जीवन का अनुभव बताता है, खाली जगहों को भरनेवाले आवारा कारक हमेशा ऐसे खाली ढाँचों की तलाश में भटकते रहते हैं। ऐसे आवारा कारक इन खाली ढाँचों में अपना रैन-बसेरा बना लेते हैं। संक्षेप में यह कि सभ्यता की आत्म-गत्यात्मकता के निर्मायक कारकों के ढाँचों और अंतर्वस्तुओं में अंतरण और मिश्रण की प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है। अंतरण और मिश्रण की इस प्रक्रिया में ही विभिन्न संस्कृतियाँ और विकृतियाँ विकसित होती रहती है। मिथ-कथाएँ बताती हैं कि शुभ और अ-शुभ दोनों का जन्मसूत्र एक ही होता है। इसी तरह, संस्कृति और विकृति का जन्मसूत्र भी एक ही होता है। यही कारण है कि कुछ लोग जिसे संस्कृति मानते हैं कुछ अन्य लोग उसे ही विकृति मानते हैं। संस्कृति और विकृति के निर्धारण के लिए सभ्यताओं के बीच विभिन्न स्तरों पर सामंजस्य,समन्वय और संघर्ष की सामाजिक प्रक्रिया चलती रहती है। सामंजस्य, समन्वय और संघर्ष के बीच स्वार्थ साधनेवाले समूह की लीलाएँ भी जारी रहती हैं। सभ्यता की विकास यात्रा में ये लीलाएँ विकृति और संस्कृति के सामाजिक अंर्तद्वंद्व के रूप में उपस्थित होती है। संप्रदायवाद और आतंकवाद जैसी विश्व व्यापी विकृतियों के जन्म और विकास को अंतरण और मिश्रण की इस प्रक्रिया के अंदर से ही समझा जा सकता है। धर्म के संप्रदायवाद में और दूसरों को अपने मनोनुकूल चलाने की सहज शासकीय आकांक्षा के आतंकवाद में लघुमित होने के पीछे सक्रिय आर्थिक संदर्भों को भी देखा जा सकता है। इन संदर्भों के कारण आज सामाजिक संबंध बहुत ही जटिल और चोटिल हो गये हैं। ऐसे जटिल और चोटिल सामाजिक संबंधों को समझने के लिए धर्म, आतंकवाद और समाज के अंतस्संबंध पर बार-बार विचार करते रहना जरूरी है। सांस्कृतिक कर्म सामाजिक मिश्रण की गतिशीलता को समाज में सहज और सुग्राह्य बनाता है। जबकि, राजनीतिक कर्म सामाजिक सम्मिश्रण की प्रगतिशीलता का सुचारू संचलन और नियंत्रण सुनिश्चित करता है। सामाजिक मिश्रण और प्रगतिशीलता के सरोकारों के इस संधि भाग पर संस्कृति और राजनीति का संबंध सुस्थिर होता है। सत्ता-राजनीति की मुख्य धारा सामाजिक संबंधों में आई जटिलताओं और चोटिलताओं को दूर करने से परहेज करती है। सत्ता-राजनीति की दिलचस्पी इस मिश्रण की जटिलताओं से मनुष्य को दिगभ्रमित करने में ही अधिक होती है। उसकी दिलचस्पी मनुष्य के चोटिल मन को निरंतर चोटियाते हुए

उसे हिंसक बनाने में होती है। ऐसा करते हुए सत्ता की राजनीति सभ्यता की आत्म-गत्यात्मकता को मानवीय धूरी से विपथित कर देने के षडयंत्र में शामिल हो जाती है। ऐसे में, सामाजिक रूप से सचेत और संगठित होकर सभ्यता के विपथन से होनेवाले दुष्परिणामों के आकलन और सकारात्मक प्रतिरोध के लिए शक्ति-संयोजन की चुनौती समाज के सामने हमेशा बनी रहती है। इस चुनौती का सामना राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर एक साथ करना होता है। जहाँ सत्ता की राजनीति समाज का साथ छोड़ देती है वहाँ भी जनता की संस्कृति समाज के साथ बनी रहने की कोशिश करती है। ऐसे कठिन समय में समाज के साथ संस्कृति के बनी रह पाने की दृढ़ता अंतत: राजनीति को भी अपने परिप्रेक्ष्य सही करने के लिए बाध्य करती है।

यह सभ्यता के विपथन का समय है। जाहिर है, इस समय सभ्यता को विपथन से बचाने के लिए वैकल्पिक पथों के अन्वेषण का काम पूरी तरह सत्ता की राजनीति के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है। इस कठिनतर काम को सांस्कृतिक रूप से पूरा करने की चुनौती हमारे सामने है। संस्कृति का औजार समाज को सचेत करने तक ही काम करता है। सचेत करने में समझ और संवेदना को चुनौती पर केंद्रित करने की जरूरत होती है। यह काम संस्कृति आदेशात्मक और उपदेशात्मक शैली से बचते हुए ही कर सकती है। यह बचाव ही 'सत्ता की राजनीति' और 'धर्म की राजनीति' से 'संस्कृति की राजनीति' को अलग और विशिष्ट बनाता है।सत्ता की राजनीति आदेशात्मक होती है। धर्म की राजनीति उपदेशात्मक होती है। संस्कृति की राजनीति संवेदनात्मक होती है। हलांकि,'संस्कृति की राजनीति' भी कभी-कभी आदेशात्मकता और उपदेशात्मकता के ऋजु मार्ग पर चलने की कोशिश करने लगती है। इस कोशिश से कई प्रकार की विकृतियाँ जन्म लेती हैं। इन विकृतियों के कारण ही संस्कृति कर्मियों को राजनीति और धर्म का पिछलग्गू बनने में सुख मिलने लगता है। संस्कृति पर विकृति का वर्चस्व बढ़ता है। इस विकृति से बचने के लिए 'संस्कृति की राजनीति', आदेशात्मकता और उपदेशात्मकता दोनों से बचते हुए, संवेदनात्मक आधार पर अपना काम करती है। 'संस्कृति की राजनीति' का अभिगम बहुत सरल नहीं होता है। संस्कृति और राजनीति के बीच तीव्र आकर्षण और अनाकर्षण सदैव सक्रिय रहता है। संस्कृति और राजनीति में गलत मिलावट से संस्कृति राजनीति का उपनिवेश बनकर रह जाती है। इस उपनिवेशीकरण का नतीजा सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद के रूप में सामने आता है। राष्ट्र और उसके रहनिहारों के बीच समतामूलक संबंधों के प्रति नकार को रहनहिारों के नैसर्गिक एवं निश्छल देश प्रेम के भावनात्मक अंतर्लेप से आच्छादित कर बनाये गये छलकारी राष्ट्रबोध से सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद संस्कृति का परिसीमन करता है। यह

परिसीमन संस्कृति को विकृति बनाता है। संस्कृति अपने मूल रूप में प्रकृति की तरह विश्वव्यापी होकर मनुष्य को निर्विशिष्ट रूप से एक माननेवाली होती है। इसी अर्थ में संस्कृति के उत्तम उपादान पूरी मनुष्य जाति की धरोहर बनते हैं। विकृति नाजायज आधार पर मनुष्य को बाँट देती है। एकात्मकता और बहुलात्मकता से भी विकृति और संस्कृति का भिन्न प्रकार का सरोकार बनता है। संस्कृति एकात्मक विश्व-मानववाद की नहीं बहुलात्मक विश्व-मानवाद की पैरवी करती है। विचार में गतिशीलता होती है और संस्कार में जड़ता। राजनीति विचार से अपना काम चलाती है। संस्कार को उतना महत्त्व नहीं देती है। कभी-कभी राजनीति की सत्ता-आकांक्षा बहुत चालाकी से संस्कार को ही विचार बना लेती है। धर्म संस्कार के आधार पर ही अपने उद्यम में लगा रहता है। विचार को महत्त्व नहीं प्रदान करता है। कभी-कभी जड़ता तोड़ने का आभास देने के लिए चतुराई से संस्कार को विचार बना लेने की ओर बढ़ता प्रतीत होता है। विचार और संस्कार के साथ यही सरोकार एक खास किस्म की राजनीति और एक खास किस्म के धर्म के परस्पर मिलने का आधार तैयार करता है। संसकृति नये-नये विचारों को संस्कार बनाने के लिए प्रयासरत रहती है। विचार और संस्कार से किसी न किसी स्तर पर 'सत्ता की राजनीति' , 'धर्म की राजनीति' और 'संस्कृति की राजनीति' तीनों का संबंध बनता है। तीनों ही विचार और संस्कार को अपने-अपने सरोकार और प्रयोजन से बरतते रहते हैं। इस बरताव में ये तीनों टकराते भी रहते हैं। मनुष्य को निर्विशिष्ट रूप से संवेदनात्मक स्तर पर एक मानकर चलनेवाली संस्कृति की ताकत को सही संदर्भ में समझते हुए मनुष्य को अन्य आधारों पर बाँटकर अपना महत्त्व कायम रखनेवाली राजनीतिक-सत्ता और धर्म-सत्ता दोनों मनुष्य की संवेदना को क्षीण और स्थगित करने के काम को अपने-अपने ढंग से गति प्रदान करती रहती हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि क्षीण और स्थगित होती संवेदना के इस दुस्समय में मनुष्य की संवेदनात्मक एकता के आधार बनाने का काम कितना दुष्कर है। कोई काम दुष्कर चाहे जितना भी हो, जरूरी होने पर, उसे करना तो होता ही है !

धर्म क्या है? यह बहुत ही जटिल सवाल है। महाभारत का स्मरण करें। यक्ष ने जो कठिन सवाल पांडवों से किये थे उनका मूल आशय यही था कि 'धर्म क्या है'। इस सवाल का कुछ हद तक कामचलाऊ जवाब सिर्फ धर्मराज युधिष्ठिर ही दे पाये थे। धर्मधुरंधरों के पास इस जटिल सवाल के बहुत सरल जवाब सहज ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर इतना ही आसान होता तो, यह यक्ष प्रश्न बनता ही क्यों! फिर भी यह सच है कि धर्मधुरंधरों के नकली जवाब जनता को कुछ हद तक संतुष्ट भी तो कर ही लेते हैं ! तभी तो नकली

जवाबों के आधार पर जनता उन धुरंधरों के – कुछ हद तक ही सही – साथ हो लेती है। ऐसा इसलिए होता है कि धर्म का मूल और नाभिकीय स्तर चाहे जितना जटिल हो, धर्म का तात्कालिक और बाहरी आडंबर अपनी संरचना में बहुत सरल होता है। अंदर से जटिल और बाहर से सरल संरचना को परिभाषाओं के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। धर्म को भी परिभाषाओं के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। धर्म के साथ शास्त्रार्थ नहीं करके ही उसके शास्त्रार्थ को जीता जा सकता है। धर्म की परिभाषाओं और उससे शास्त्रार्थ के चक्कर में सुलझन की जगह नई-नई उलझनें ही हाथ आती हैं। फिर धर्म को कैसे समझा जाए? धर्म को उसके विचार समुच्चयों के सहयोजन और आचार के वास्तविक प्रयोजन एवं परिणतियों को एक दूसरे के ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में रखकर समझा जा सकता है। धर्म के उद्भव के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखने से कुछ सामान्य लक्षण सामने आते हैं। ये लक्षण बताते हैं कि धर्म का उद्भव किसी आधिभौतिक या आध्यात्मिक कारणों से न होकर नितांत भौतिक और सामाजिक कारणों से हुआ है। इन भौतिक और सामाजिक कारणों को कई उपवर्गों में रखकर समझा जा सकता है। अपने अस्तित्व की रक्षा और विकास के लिए प्रकृति को साधना मनुष्य के लिए बहुत जरूरी था। प्रकृति को साधने के लिए उसमें समूहन की भावना आई। समूहन के लिए पार्थक्य और एकता दोनों की जरूरत होती है। पार्थक्य और एकता दोनों के लिए एक आधार की जरूरत होती है। पार्थक्य और एकता का आधार इकाईगत और समूहगत स्वार्थ का हितबोध बनाता है। इकाईगत और समूहगत स्वार्थ को पूरा करने के क्रम में सामाजिकता का संघटन होता है। स्वार्थ – चाहे वह इकाईगत हो या समूहगत – बहुत कँटीला होता है। वह अक्सर सामाजिकता को छील-छाँट देता है। इस छील-छाँट की पीड़ा को कम करने और स्वार्थ के महासमुद्र में जीवन को मनोरम बनाने के लिए संतोष के छोटे-छोटे द्वीप उगाने के क्रम में धर्म का उद्भव होता है। संतोष के ये छोटे-छोटे द्वीप न्याय और समानता के आश्वासन पाकर ही स्वार्थ के महासमुद्र के तूफानों से होनेवाले क्षरण का मुकाबला कर पाते हैं। किसी भी हालत में, रघुवीर सहाय के शब्दों में कहें तो, 'लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते।' न्याय और समानता प्राप्ति के आश्वासन के लिए ईश्वर की जरूरत होती है। अंतिम न्यायकर्त्ता और समदर्शी होने के रूप में ईश्वर को प्रचारित किया जाता है। इसलिए सताये हुए लोग – जिन्हें न्याय की प्रतीक्षा सबसे ज्यादा होती है – ईश्वर को अपने मन से सब से अधिक चिपकाये रहते हैं। निर्बल के बल, राम! दूसरी ओर सतानेवाले लोग भी बड़े जोर-शोर से ईश्वर-विचार का प्रचार करते हैं क्योंकि ईश्वर पर भरोसा कर ही आदमी अंतिम न्याय की प्रतीक्षा में सारे दुख को चुपचाप सहता रहता है। इस प्रकार ईश्वर-विचार सताये हुए

लोगों के सामाजिक संघर्ष को कर्महीन और सतानेवाले लोगों के शोषण को सामाजिक चुनौतियों से रहित बनता है। इस प्रक्रिया में ईश्वर सब का प्रिय और आराध्य बना रहता है। इसलिए, सताये हुए लोगों के सामाजिक संघर्ष की कर्महीनता और सतानेवाले लोगों के शोषण को सामाजिक चुनौतियों से रहित किये जाने के विरोधी लोगों के लिए ईश्वर-विचार का निषेध प्राथमिक दायित्व होता है। ध्यान में यह होना चाहिए कि यह प्रसंग ईश्वर के अस्तित्व और अन-अस्तित्व की बहस से भिन्न प्रकार का है। नास्तिकता को सीधे ईश्वर का निषेधी प्रचारित कर उलझा दिया जाता है। इस बात को धीरे से दबा दिया जाता है कि पूर्ण नास्तिक वेद या धर्मग्रंथों को अपौरुषेय और प्रमाण न माननेवालों को ही माना जाता है। वेद और धर्मग्रंथ अन्य बातों के साथ-साथ प्रमुखत: ईश्वर-विचार ही हैं। वेद या धर्मग्रंथ के विरोध का मुख्य तात्पर्य ईश्वर का नहीं, ईश्वर-विचार का विरोध है। नास्तिकता ईश्वर के अस्तित्व की बहस में न पड़कर ईश्वर-विचार का निषेध करती है। ईश्वर-विचार का निषेध 'अंतिम न्याय' और 'समदर्शिता' के छलावे से बाहर निकलकर सामाजिक संघर्ष को कर्महीनता से बचाने और शोषण को सामाजिक चुनौतियाँ देने की ओर बढ़ता है। सिद्धांतत:, धर्म और ईश्वर-विचार अन्योनाश्रित नहीं हैं। व्यवहारत:, धर्म और ईश्वर-विचार एक दूसरे के बिना टिक नहीं पाते हैं। ईश्वर-विचार को अधिक टिकाऊ बनाने के लिए उसे सांस्थानिक रूप देने की जरूरत होती है। इस जरूरत को पूरा करने के लिए धर्म का संघटन होता है। धर्म अपने समूह के अंदर किसी न किसी रूप में अंतिम न्याय और समानता का झाँसा देने में सफल रहता है। इस अंतिम न्याय और समानता को पाने के लिए जरूरी होता है कुछ विधि, निषेध को मानना। इसके लिए विभिन्न प्रकार की धर्म संहिताओं का जन्म होता है। पाप और पुण्य की संकल्पनाएँ सामने आती हैं। समानता और न्याय के आश्वासन को जिंदा रखने के लिए धर्म नैतिकता की बात भी उठाता रहता है। हिंदु धर्म में कर्म-फल जैसे सिद्धांत बनाये जाते हैँ। यह सही है कि धर्म के कई-कई आकाश होते हैं। इन आकाशों में तरह-तरह के कुसुम खिले होते हैं। लेकिन उसके पास जमीन तो एक ही होती है ! और वह जमीन, सामाजिक मुक्ति की नहीं सामाजिक शोषण की होती है। धर्म मूल रूप से सतानेवाले लोगों के हित रक्षण से ही जुड़ा होता है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिकता को अपनी परिधि में लेकर, धर्म जहाँ एक ओर शोषकों से शोषण को मानवीय सहन सीमा के अंदर बनाये रखने का अनुनय करता है वहीं दूसरी ओर सताये जा रहे लोगों की विनयशील सहन सीमा को फैलाता भी रहता है। धर्म के एक आकाश पर मानववाद रहता है। धर्म का मानववाद सामाजिक सहिष्णुता और सामंजस्य का आधार रचने की कोशिश करता है। धर्म के एक अन्य आकाश पर पुरोहितवाद रहता है। पुरोहितवाद

सहिष्णुता को कायरता और उग्रता को वीरता के रूप में गौरवान्वित कर असहिष्णुता और मिथ्या सामाजिक संघर्षों को हवा देता रहता है। धर्म के इस जाल को वे लोग भी भलिभाँति समझते हैं जो उसकी ओर आध्यात्मिक आग्रह और शांति के लिए आकृष्ट होते हैं। सूफी सहित पूरी संत परंपरा धार्मिक आच्छादन में रहकर भी पुरोहितवाद और सामंतवाद को चुनौती देती थी। चुनौती देती थी इसलिए धार्मिक दिखते हुए भी यह परंपरा विभेदकारी और संप्रदायवादी नहीं थी, बल्कि इस अर्थ में धार्मिक परिसर के बाहर जाने का भी खतरा उठाती थी। धर्म और भक्ति के अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। रवींद्रनाथ ठाकुर भी अ-धार्मिक व्यक्ति नहीं थे। वे धर्म के विभेदकारी और शोषक रूप को भी भलीभाँति पहचानते थे। यही कारण है कि वे अपनी कविता में धर्म के विभेदकारी और शोषक रूप का पूरा विरोध करते हैं। इसीलिए उनके मानवादी धर्म में ईश्वर की व्याख्या मानवीय रूप में की जाती है। ईश्वर की व्याख्या मानवीय रूप में करना असल में ईश्वर को मनुष्य से विस्थापित करना भी है। ईश्वर को विस्थापित करनेवाला यह 'मानव' व्यक्तिवाचक नहीं जातिवाचक है। पुरोहितवाद भी कभी-कभी ईश्वर को मानव से विस्थापित करता है। अंतर यह है कि पुरोहितवाद का मानव जातिवाचक न होकर व्यक्तिवाचक ही होता है। वह राजा या शासक के ही किसी रूप को ईश्वर बताने के प्रयास में लग जाता है। रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे मानववादी किसी राजा को नहीं जन को ही जनार्दन मानकर आगे बढ़ते हैं। इस अर्थ में, संत परंपरा की प्रतिधर्म चेतना, सूफी संवेदना एवं रवींद्रनाथ ठाकुर के 'मानववादी' दर्शन में 'अविकसित जनवाद' के भी किसी-न-किसी रूप और तत्त्व के बीज की भी तलाश की जा सकती है। अवतारवाद की पूरी संकल्पनाएँ इस अर्थ में ईश्वर को मनुष्य से विस्थापित ही तो करती हैं! मदर तेरेसा जैसी धर्मात्मा को भी धर्म की शोषक और विभेदकारी भूमिका के कारण कभी-कभी ईश्वर-विचार की सार्थकता पर शंका होने लगती थी। यहाँ धर्म के पुरोहितवादी, शोषक, सामंती और आध्यात्मिक, सहनशील, शांति प्रदायी रुझान के बीच के संघर्ष को समझा जा सकता है। लेकिन एक बात ध्यान में रखने की है कि यह संघर्ष चाहे जैसा और जितना रहा हो, सच यही है कि धर्म के आध्यात्मिक, सहनशील, शांति प्रदायी रुझान को धर्म के पुरोहितवादी, शोषक, सामंती रुझान ने कभी समाज में ढंग से चलने नहीं दिया। धर्म के सारे आश्वासन समूह के सदस्य के लिए होते हैं। समूह से बाहर जाकर वह कोई आश्वासन नहीं देता है। वह शरणागति की ही कल्याण कामना करता है। भाषा चाहे जो हो अर्थ एक ही है – मामेकं शरणं ब्रज – मेरी शरण में आओ । धर्म सामाजिक एकता और अनिवार्यत: पार्थक्य का भी भ्रमपूर्ण आधार बनाता है। ये

आधार भ्रमपूर्ण क्यों होते हैं, इस पर विचार किया जाना जरूरी है। कबिलाई या आदिम स्थिति को छोड़ दें तो सामाजिक समूहन के लिए धर्म के आधार पर बनाई गई एकता में समूह के सदस्यों के बीच वास्तविक सामाजिक समानता का कोई तत्त्व नहीं होता है। एकत्वबोध के बिना वास्तविक एकता नहीं हो सकती है। समानता के बिना एकत्वबोध नहीं हो सकता है। असमानों में कैसी एकता ! जो शोषण का आधार बनाता है, वह चाहे और जो करे एकता का आधार नहीं बना सकता है। धर्म की बनाई एकता शोषण का आधार बनाती है। जाहिर है धर्म एकता का नहीं एकता के भ्रम का ही आधार बनाता है। बिना किसी प्रयास के यह समझ में आने लायक बात है कि समूह के सदस्यों में एकता के भ्रम के निर्माण के लिए धर्म पार्थक्य का भी नकली आधार ही बनाता है। धर्म निर्मित पार्थक्य का आधार नकली इसलिए होता है कि वह मनुष्य की नैसर्गिक, जैविक और संवेदनात्मक एकता के वास्तविक आधार को ध्वस्त करता हुआ ही विकसित होता है। यह नकली पार्थक्य संप्रदायवाद को जन्म देता है। धर्म निर्मित पार्थक्य के नकली आधार पर विकसित संप्रदायवाद शोषण का आधार बनाता है। तात्पर्य यह कि पुरोहितवाद के द्वारा एकता और पार्थक्य दोनों ही के लिए धर्म निर्मित आधार अंतत: मिथ्या और शोषण की प्रेरणा से प्रसूत होता है तथा मानववाद में आकांक्षित निर्विशिष्ट मनुष्य की नैसर्गिक संवेदनात्मक एकताबोध के अर्जन के प्रयास को निरर्थक बनाने में अक्सर सफल रहता है। आतंक धर्म शोषण का आधार प्रदान करता है। धर्म के आधार पर निर्मित एकता और पार्थक्य का भ्रम शोषण का आदिम अवसर बनाता है। इससे आंतरिक रूप से संप्रदायवाद और बाह्य रूप से आतंकवाद के एक प्रकार का जन्म होता है। इसे धर्म मात्र के बारे में समझना चाहिए, किसी एक ही धर्म के बारे में नहीं। आतंकवाद का संबंध किसी एक धर्म से जोड़ने की गलत प्रवृत्ति इन दिनों खुलकर खेल रही है। **यह सही है कि आतंकवाद का एक सिरा धर्म से भी जुड़ता है, लेकिन यह आतंकवाद की प्राणसिरा नहीं है। आतंकवाद की प्राणसिरा को पहचानने के लिए हमें धर्म और राजनीति के सम्मिश्रण की प्रक्रिया को भी ध्यान में रखना चाहिए। धर्म के ढाँचे से धर्म की अंतर्वस्तु – न्याय और समानता से जुड़ी तमाम मानवीय मूल्यों की नैतिकता – बाहर कर दी गई है। धर्म के खाली ढाँचे में राजतंत्रीय अंतर्वस्तु का ऐकांतिक अंतर्वास हो गया है।** धर्म अपनी इस समकालीन अंतर्वस्तु के साथ राजनीति के ढाँचे में प्रवेश कर वहाँ से जनतंत्र की बची हुई अंतर्वस्तु को बाहर कर राजतंत्रीय अंतर्वस्तु के संस्थापन के काम में लगा हुआ है। इस प्रसंग के रूप में आज विश्व स्तर पर आतंकवाद के नये उभार को समझने का प्रयास किया जा सकता है। हटिंगटन जैसे विद्वान सभ्यताओं के जिस संघर्ष की बात कहते हैं वह बात सभ्यता और धर्म को समव्यापी पर्याय माने बिना पूरी नहीं होती है। आतंकवाद से

इसलाम को जोड़ने के प्रयास को अपने हित में दुनिया को एक ध्रुवीय बनाने की परियोजना पर काम कर रहे लोगों के मनोभाव से जोड़कर देखा जा सकता है। यह सच है कि आज आतंकवाद का बाहरी और खुरदुरा रूप, प्रभाकरण आदि के रहते हुए भी, इसलाम से संबंधित होने की प्रतीति कराता है लेकिन उसका भीतरी और महीन रूप वास्तव में साम्राज्यवादी विश्वविजयनी आकांक्षा से ही संबंधित है। एक ओसामा बिन लादेन को 'पकड़ने' और सद्दाम हुसैन का 'दिमाग ठिकाने' पर लाने के लिए अमेरिकी आका विश्व जनमत की अवहेलना करते हुए आगे बढ़ते जाने के लिए उद्धत होते हैं। यह औद्धत्य क्या कम आतंकवादी है? आतंकवाद या उग्रवाद का एक सिरा हमेशा से अन्याय के किसी-न-किसी रूप के विरोध से भी जुड़ा रहता है। जब राज्य-सत्ता सारे तर्कों को स्थगित कर देती है, जनतांत्रिक रास्तों को बंद कर देती है, सहमति और सहकार के महत्त्व को नजरअंदाज करती हुई अपने व्यवहार में निरंकुश हो जाती है तभी आतंकवाद का जन्म होता है। इसलिए जिस कार्रवाई का एक रुख आतंकवादी लगता है उसी कार्रवाई का दूसरा रुख क्रांतिकारी भी प्रतीत होने लगता है। आतंकवाद और क्रांतिकारी विचारधारा में अंतर इतना बारीक होता है कि कभी-कभी इन्हें एक दूसरे से अलग करना भी मुश्किल हो जाता है। 2002 के शीतकालीन अधिवेशन में भारतीय संसद की राज्यसभा ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पर एक पर्चा प्रकाशित और वितरित की थी। बताया गया है कि इस पर्चा में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारी नायकों के लिए आतंकवादी और उग्रवादी जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है। शोरगुल और संभवत: शर्मिंदगी के बाद राज्यसभा ने इस पर्चे को वापस ले लिया। इस घटना से समझा जा सकता है कि आतंकवाद और क्रांतिकारी गतिविधि में कितना बारीक अंतर होता है। इस बारीक अंतर को देश में जनतांत्रिक विमर्श की सर्वोच्च संस्था भी पकड़ पाने में विफल रहती है। इस विफलता को सिर्फ असावधानी का नतीजा मानना ठीक नहीं है। यह घटना पर्चा तैयार करनेवालों की असावधानी से अधिक उनके सरोकार को स्पष्ट करती है। आतंकवाद पर विचार करते समय उसके ग्लोबल मिजाज की अनदेखी नहीं की जा सकती है। आज जिस प्रायोजित आतंकवाद का प्रसार हम देख रहे हैं, उस आतंकवाद के प्रायोजन का सिरा किसी राष्ट्र की अंदरूनी स्थितियों से ही जुड़ी न होकर विभिन्न राष्ट्रों की वैदेशिक नीतियों के आर्थिक हितों से भी जुड़ा है। वस्तुत: धर्म के नाम पर एकता और पार्थक्य के लिए तैयार किये गये भ्रामक आधार आतंकवाद के बड़े काम का होता है। आतंकवाद समाज में आतंक का प्रसार चाहता है। आतंक के प्रसार के लिए जरूरी है कि आतंकित करनेवालों और आतंकित होनेवालों के दो स्पष्ट समूह हों। धर्म ऐसे समूहन के लिए पहले से बना-बनाया अव्याख्येय आधार मुहैय्या कराता है। आतंकवाद के प्रसार के अध्ययन से यह पता चलता है कि आतंकवादी अपनी कार्रवाइयों के प्रति समर्थन हासिल

करने के लिए सबसे पहले अपने समूह के सदस्यों को ही निशाना बनाता है। क्रांतिकारी कार्रवाइयों के इतिहास को देखने से यह बात बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही समझ में आ जाती है कि क्रांतिकारी कार्रवाइयाँ ऐसे समूहन के लिए पहले से बने-बनाये किसी अव्याख्येय आधार का आश्रय नहीं लेती है। इसके विपरीत क्रांतिकारी कार्रवाइयाँ समूहन के लिए नये और व्याख्येय आधार का संघटन करती है। इसके साथ ही यह भी कि क्रांतिकारी कार्रवाइयाँ जिनके हित साधन के लिए वचनबद्ध होती है उनके समर्थन हासिल करने के लिए जोर-जबर्दस्ती का सहारा न लेकर सहमति और सहकार बनाने का रास्ता अख्तियार करती है। इस सहमति और सहकार के बनने में, क्रांतिकारी कार्रवाइयों की सफलता के बाद की, समाज-आर्थिक आकांक्षाओं की अपेक्षाकृत अधिक सुस्पष्ट और सुसंगत तस्वीर होती है। समूहन के लिए सहमति और सहकार किसी भी क्रांतिकारी कार्रवाई की अनिवार्य पूर्व-शर्त्त होती है। आतंकवादी कार्रवाइयाँ सहमति और सहकार की किसी पूर्व-शर्त्त को वैध नहीं मानती है। जाहिर है आतंकवाद जिनके हित के लिए प्रतिश्रुत होने का दावा करता है उन्हें भी अपना ग्रास बनाने से कोई परहेज नहीं करता है। कहने की जरूरत नहीं है कि तालिबानों से कितना त्रस्त इसलाम को माननेवाले हुए हैं। इसका कुछ-कुछ देशी अनुभव और अनुमान हमें बजरंगदलियों से त्रस्त हिंदुओं को देखने से हो ही सकता है। जिस उदारता से आतंकवादी कार्रवाइयों को विदेशी सहायता हासिल होती है, वह बहुत ही चौंकानेवाला है। आखिर बाहरी शक्तियों की इस दिलचस्पी के क्या कारण हो सकते हैं ? और वे बाहरी शक्तियाँ कौन-सी हैं ? यह इतनी छिपी हुई बात तो नहीं है ! छिपी हुई नहीं होने के बावजूद उन बाहरी शक्तियों की दिलचस्पी के कारण बहुत ही जटिल और संश्लिष्ट हैं। इसलिए, इनका विश्लेषण बहुत गहराई से किये जाने की आवश्यकता है। इस विश्लेषण के लिए भय और आतंक के संबंध को भी समझना चाहिए। **भय व्यक्ति की अस्थाई मनोदशा है। आतंक समाज की स्थाई मनोदशा है। व्यक्ति भय के कारण समाज और कानून के द्वारा वर्जित प्रदेश में प्रवेश करने से हिचकता है। भय में समाज का दबाव व्यक्ति के मन में काम करता है। आतंक में व्यक्ति और उसके छोटे समूह का दबाव समाज के मन में काम करता है। सहमति और सहकार से सापेक्षता के कारण भय की एक सकारात्मक और सामाजिक भूमिका भी होती है। सहमति और सहकार से निरपेक्षता के कारण आतंक की नकारात्मक और असामाजिक भूमिका ही होती है। तुलसी दास ने भय की इसी सकारात्मक भूमिका को समझते हुए उसे प्रीति से जोड़ा होगा — 'बिन भय होंहि न प्रीति'** । 'आदमी का डर' कहानी की शुरुआत करते हुए शेखर जोशी लिखते हैं , 'बच्चों के होश सँभालने के साथ ही माँएँ उनके मन में एक आतंक भर देती थीं । यह सामान्य सा मुहावरा था 'हुणियाँ' आया । सुनते ही

रोते हुए बच्चे सहम कर चुप हो जाते और जिद्दी बच्चा अपनी माँगें भूल जाता था। ऐसे ही वातावरण में हम पले बढ़े थे ।' इस अनुभव से हम सभी किसी-न-किसी रूप में परिचित हैं। कभी भगवान भी इस 'हुणियाँ' के रूप में प्रकट होते हैं। ध्यान देने पर यह स्पष्ट होता है कि शेखर जोशी ने माँओं के द्वारा बच्चों के मन में जिस 'आतंक' के भरे जाने की बात कही है, वह सामान्य आतंक है और भय का ही समानार्थी है। यह आतंक 'जिद्दी माँग' को स्थगित करने के प्रयोजन का पूरा करने में कारगर है। इस 'जिद्दी माँग' को नागरिक जीवन के विस्तार में समझना चाहिए। हम जब आज आतंक को उसके 'वाद' से जोड़कर समझने की कोशिश कर रहे हैं, तो उस सामान्य अर्थ से इसकी भिन्नता हमारे ध्यान में होनी ही चाहिए। इस बात से हमें 'भय' के 'आतंक' बनते जाने की भी गवाही मिल जाती है। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि व्यक्ति के मन में जिस भय वृत्ति का सदावास हुआ करता है आतंकवाद उस भय को ही आतंक तक फैलाने की परियोजना पर काम करता है। एक सुचिंतित विचार समुच्चय के रूप में आतंकवाद के इतिहास पर अलग से विचार किया जा सकता है। यहाँ तो बस इतना ही ध्यान में रखने से काम चल जायेगा कि भय और आतंक दोनों की आनुपातिक संचरण और संतुलन व्यक्ति और समाज में सदा रहा है। आज की बिडंबना यह है कि भय और आतंक के आनुपातिक संतुलन में भारी गड़बड़ी पैदा हो गई है। **आज व्यक्ति के मन में 'भय' कम हो गया है। कानूनी और सामाजिक वर्जना के भय से बड़ा-से-बड़ा अपराध और अनैतिक काम करने में व्यक्ति की सामाजिक हिचक कम हुई है। वहीं 'आतंक' के कारण अपने बड़े-से-बड़े अधिकार को भी सहज छोड़ देने की व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इसी सामाजिक और वैयक्तिक प्रवृत्ति के तोते में आतंकवाद प्राण बसता है।** कुत्सित विचारों के एक समुच्चय के रूप में आतंकवाद सभ्यता की इस स्थिति को जानता है। आतंक फैलानेवालों की करतूतें न किसी सामयिक उत्तेजना की परिणति होती है और न ही किसी प्रकार की गलतफहमियों से उपजी संदर्भच्युत विच्छिन्न घटना ही होती है। आतंकित करनेवाली घटनाओं के पीछे बारीकी से तैयार किया गया कु-तर्कजाल होता है। यह कु-तर्कजाल ही आतंकित करनेवाली घटनाओं को 'वाद' के आभास से जोड़ कर एक वैचारिक आधार प्रदान करने की कोशिश करता है। इस कु-तर्कजाल का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र धर्म के परोहितवादी रुझान से बनता है। वह धर्म के विधान के लिए ईश्वर के नाम पर फैलाये जानेवाले सामाजिक आतंक की सफलता के रहस्य को भी जानता है। आतंकवाद धर्म के पुरोहितवादी और मानववादी रूप और तत्त्व के अंतर को जानता है। धर्म के मानवादी रूप और तत्त्व में अविकसित जनवाद के भी किसी-न-किसी रूप और तत्त्व के होने की विपुल संभावनाएँ छिपी होती हैं। यह धर्म के

आधार पर विकसित किये जानेवाले आतंकवाद के किसी काम का नहीं होता है। बल्कि धर्म का मानवाद तो आतंकवाद के विरोध की प्रेरणा और प्रतिज्ञा बनकर उभरने की कोशिश करता है। इसीलिए किसी धर्म का मानवादी रूप और तत्त्व अपने ही धर्म के पुरोहितवादी रूप और तत्त्व के आधार पर विकसित आतंकवाद का पहला ग्रास बनता है। समझा जा जा सकता है कि सभ्यता निर्मिति के ऐतिहासिक-सामाजिक विकासक्रम में उपलब्ध हुई सूफी-चेतना और संत-चेतना तालिबानों और बजरंगदलियों को क्यों पसंद नहीं आती है। पूरी दुनिया में आतंकवाद और पुरोहितवाद के नवोत्थान को उनके सहदोर ही नहीं जुड़वाँ भी होने की जटिल प्रक्रिया के माध्यम से ही समझा जा सकता है। नवपूँजीवाद की विश्वविजयनी आकांक्षा इनकी माता है। उनिभू (उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण) की त्रिशिरा इस आकांक्षा की त्रिजटा को संपोषित करती है। इस त्रिजटा का एक पहलू अ-राजकीय आतंकवाद है, दूसरा पहलू राजकीय आतंकवाद है और तीसरा इन के अंतराल में विकसित सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में निरंतर पसरते हुए स्थानीय अपराधों के आतंक की छोटी-बड़ी गाँठों का महाजाल है। उनिभू की प्रक्रिया के अंतर्गत दुनिया के बहुसंख्यक लोगों के सामने अस्तित्व का संकट आ खड़ा हुआ है। इस संकट से उत्पन्न आतंक क्या कम बड़ा है ? इसके कारण जीवन हलकान है, सपने लहुलुहन हैं। सामाज-व्यवस्था के सुचारू रहने के लिए सब-से महत्त्वपूर्ण तत्त्व जनतंत्र – उसका ढाँचा और अंतर्वस्तु दोनों ही –- इस प्रक्रिया में संकटापन्न हो गया है। दुनिया के शासकों की स्वैच्छाचारिता पर जनतंत्र ही अंकुश लगाता है। राजनीतिक राज्य धीरे-धीरे नैगमिक राज्य से विस्थापित हो जाने की दिशा में बढ़ रहा है। जननायक आजकल धननायक बनने में जरा भी देर नहीं करते हैं। राम के नाम पर लोगों को गोलबंद करने के काम में लगे मुख्य लोगों के पास करोड़ों-अरबों का कारोबार है। देश और दुनिया के अन्य जनतांत्रिक राज्यों के भी अधिकतर जनप्रतिनिधि करोड़ों-अरबों के कारोबारी हैं। ये जनतंत्र को भी कारोबार मानते हैं। ये अपने कारोबार में सहायक नहीं बन पानेवाले जनतंत्र को पलक झपकते ही कबार बना देने के कूट-उद्यम में लग जाते हैं। इन कारोबारियों को जनतंत्र की चिंता भला क्यों हो! दुनिया अपनी जगह, अपने भारतवर्ष में भी वह समय बहुत दूर नहीं है जब धनपति लोग सीधे चुनाव लड़ेंगे, जीतेंगे और अपने व्यापार जगत के हित में राज्य और जनतंत्र का सीधा इस्तेमाल करेंगे। यह कोई हवाई बात नहीं है। इस संदर्भ में जनतंत्र के अप्रत्यक्ष इस्तेमाल का हमारा देशी अनुभव है। हमने देखा है, चुनावी प्रक्रिया में अपराधियों का साथ लेने पर किस कदर राजनीति का अपराधीकरण हुआ। बाहुवली खुद नेता बन गये। कानून और संविधान के प्रवाधानों की तमाम पगबाधाओं को पार करते हुए चुनाव लड़ते ही नहीं

जीतते भी हैं। जीतते ही नहीं मंत्री भी बनते हैं। मंत्री भी ऐसे-वैसे नहीं, साधारण मंत्रियों पर भारी पड़नेवाले मंत्री! धनपतियों और उद्योगपतियों के सामने तो ऐसी कोई पगबाधा भी नहीं है। अभी इस या उस व्यापारिक घराने के हितसाधन के लिए चोरी-चोरी, चुपके-चुपके हमारे जननायकों की लॉबिंग से ही हमारा जनतंत्र वृद्ध जटायु की तरह घायल होकर कराह रहा है! तब क्या होगा जब इस या उस व्यापारिक घराने के मालिक खुद अपने हाथ में राज्य-सत्ता की बागडोर ले लेंगे? विज्ञान तो अंत:सलिला की तरह काम करता है, स्वाभाविक ही है कि धनसत्ता की सेवा में उसके लग जाने की स्थिति भी अंत:सलिला ही होती है। फिल्म और मीडिया पर तो धनसत्ता की पकड़ बिल्कुल साफ-साफ सतह पर देखी जा सकती है; बौद्धिक-सांस्कृतिक विमर्शों, साहित्य और अन्य कलाओं पर उनकी जकड़ के दबाव को महसूस करने और स्वीकारने में हो सकता है थोड़ा समय और लगे। ऐसे में जनतंत्र! जनतंत्र का स्यापा भी होता रहेगा और जनतंत्र की हत्या भी होती रहेगी! स्यापा करने में हत्यारे सब-से आगे रहेंगे! जनतंत्र जन का नहीं बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों का आपसी मामला बनकर रह जायेगा। जनतंत्र के ढाँचों से उसकी बची हुई अंतर्वस्तु भी खदेड़ दी जायेगी। जनतंत्र के खाली ढाँचे में राजतंत्र की अंतर्वस्तु विलास करेगी। हमारे जननायकों में राजा बनने की ललक कितनी बढ़ी है ! नहीं । आतंकवाद – अ-राजकीय हो या राजकीय – कुल मिलाकर इसी थिसिस पर काम करता है। जिन्हें हम आतंकवादी कहते हैं वे गरीब तो इस थिसिस की सेवा से अपना रोजगार कमाते हैं या बेगार करते हैं। चाहे जिस रंग और ढंग का आतंकवाद हो उसके फिदायिनों या आत्मघातियों के आर्थिक आधार को देखने से उनकी बेचारगी का पता चल सकेगा। **अमीर तो छोड़िये किसी भी प्रकार से जिंदगी की गाड़ी को गुड़का ले जाने का थोड़ा-सा भी भरोसा रखनेवाले बच्चे (जी हाँ बच्चे !), किशोर और युवा फिदायिन या आत्मघाती बनने की बात भी नहीं सोच सकते।** हाँ इन में से कुछ किसी प्रकार की रोमानियत ओर नाजायज सपनों को साकार करने के लिए जरूर इनकी चपेट में आ जाते होंगे लेकिन इन से फिदायिन या आत्मघाती की मुख्यधारा नहीं बनती है। आतंकवाद और संप्रदायवाद में मनुष्य के प्रति कोई आदर नहीं होता है। इसलिए आतंकवाद और संप्रदायवाद किसी भी रूप में समानता और न्याय के लिए प्रतिश्रुत धर्म और जनतंत्र का आदर नहीं करता है। धर्म हो या जनतंत्र हो वह मनुष्य के लिए है। सच्चे धर्म के मानववादी रूप और तत्त्व में मनुष्य के प्रति गहरा अनुराग होता है। सच्चे जनतंत्र के भी जनवादी रूप और तत्त्व में मनुष्य के प्रति गहरा अनुराग होता है। धर्म और जनतंत्र के एकाकार होने का आधार मनुष्य के प्रति इनका अनुराग है। सच्चा धर्म और सच्चा जनतंत्र

एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक होते हैं। सच्चे धर्म और सच्चे जनतंत्र की अलग-अलग चिंता करनेवलों को यह बात समझनी होगी। आतंकवाद और संप्रदायवाद के हथियार का उद्भव धर्म के ढाँचे में विकसित पुरोहितवाद की अंतर्वस्तु और जनतंत्र के ढाँचे में विकसित राजतंत्र की अंतर्वस्तु के बीच बने जटिल संश्रय से हुआ है। इसलिए, आतंकवाद और संप्रदायवाद से निपटने के लिए जरूरी औजार का उद्भव धर्म की मानववादी अंतर्वस्तु और जनतंत्र की जनवादी अंतर्वस्तु के सरल संश्रय से ही हो सकेगा। सभ्यता के संकट की इस घड़ी में मनुष्य के सामने मुख्य सवाल यह है कि धर्म के ढाँचे में विकसित पुरोहितवाद की अंतर्वस्तु और जनतंत्र के ढाँचे में विकसित राजतंत्र की अंतर्वस्तु के बीच संश्रय बनाने का काम तो राज ने कर लिया है लेकिन इन से पार पाने के लिए धर्म की मानववादी अंतर्वस्तु और जनतंत्र की जनवादी अंतर्वस्तु के संश्रय बनाने का गुरूतर काम कौन करेगा? कैसे करेगा? इस 'कौन करेगा' के जवाब से ही 'कैसे करेगा' का करगर जवाब मिल सकेगा। इस 'कौन करेगा' का उत्तर समाज है। यह काम तो समाज करता ही आया है। इस काम को समुचित गति और दिशा देने की कोशिश और उससे भी अधिक अपने लिए भरोसे की तलाश में हमें समाज को बार-बार समझना होता है। समाज को हासिल कर ही हुस्स होते हुए हुलास को कुछ हद तक बचाया जा सकता है। समाज सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज की संरचना में काफी बदलाव आया है। औद्योगिक विकास के बाद सामाजिक संरचना के स्तर-विन्यास में बहुत बड़ा अंतर आया था। अब तकनीक के विकास के बाद समाज की संरचना में फिर भारी अंतर उपस्थित हुआ है। 'विश', 'ग्राम', 'सभा', 'समिति', 'गण' आदि के प्रसंग से समाज की बनावट की ऐतिहासिकता का पता चलता है। इतिहास अध्ययन की दृष्टि से इसका अपना महत्त्व भी है। यहाँ मुख्य चिंता समकालीन समाज के बनाव को समझने की है। समकालीन समाज को समझने की दृष्टि से यहाँ उन प्रसंगों की उपादेयता बहुत अधिक नहीं प्रतीत होती है। औद्योगिक विकास के साथ आबादी में भारी गत्यात्मकता आई। विभिन्न जगहों से कुशल और अधिक जागरुक लोग रोटी की तलाश में औद्योगिक केंद्रों की ओर आने लगे। धीरे-धीरे उनका नया बसाव इन औद्योगिक केंद्रों के आस-पास होने लगा। इससे सामाजिक संस्तरीयकरण की दुहरी प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ। एक स्तर की सामाजिक प्रक्रिया उन जगहों पर शुरू हुई जिन जगहों को छोड़कर कुशल और अधिक जागरुक लोग औद्योगिक केंद्रों पर आकर बस गये थे। उन जगहों पर एक सामाजिक शून्यता बनने लगी। ऐसी शून्यता जो सामाजिकता की दृष्टि से कालांतर में बहुत ही भयावह और घातक साबित हुई। दूसरे स्तर की सामाजिक प्रक्रिया उन औद्योगिक केंद्रों पर शुरू हुई जहाँ कुशल और अधिक जागरुक लोगों का अति-रिक्त जमाव होने लगा था। स्वभावत: इस अति-रिक्त जमाव में अर्थ-प्रवाह अधिक गहन था। लेकिन यह अति-रिक्त जमाव सामाजिकता में

बदल नहीं पाया। इस जमाव के बसाव को कॉलोनी कहे जाने का प्रचलन बढ़ता ही गया। यह बसाव सचमुच अपने ही देश में कॉलोनी अर्थात उपनिवेश के रूप में ही जमता चला गया। इससे उद्योग केंद्रित स्थानों की पारंपरिक सामाजिकता अतिकेंद्रण के दबाव में आने लगी। इस प्रकार, संक्षेप में यह कि औद्योगिक क्रांति की प्रक्रिया के साथ ही प्रतिभा-वितरण की दृष्टि से एक सामाजिक असंतुलन का भी प्रारंभ हो गया। प्रतिभा-वितरण का यह असंतुलन कम भयावह और घातक साबित नहीं हुआ। ध्यान में रखने की बात यह भी है कि भारत में औद्योगिक विकास का काम भीतरी और बाहरी औपनिवेशिकता के वातावरण में हो रहा था। औपनिवेशिकता अपने आप में नाना प्रकार के असंतुलन की जननी होती है। सामाजिक असंतुलन पैदा करनेवाली इस तिहरी स्थिति के कारण भारतीय समाज में परंपरा के साथ आधुनिकता का सार्थक संवाद और विश्वसनीय संबंध नहीं बन सका तो उसके कारणों को समझे जाने की जरूरत है। औद्योगिक क्रांति के पहले उपभोक्ता वस्तु के उत्पादक और वितरक समूह का चेहरा उपभोक्ता के सामने साफ हुआ करता था। औद्योगिक क्रांति के बाद उत्पादक और वितरक समूह का चेहरा धीरे-धीरे ओझल और अमूर्त्त होता गया। सामाजिकता के लिए आवश्यक प्रतिनिर्भरता या अंतर्निर्भरता भी अमूर्त्त होती चली गई। इस अमूर्त्तता को तोड़ने का कोई बड़ा प्रयास भी नहीं हुआ। आज तो बाजार का अदृश्य हाथ बड़े-बड़े फैसले चुटकियों में ले रहा है। मिल्टन सिंगर के संदर्भ से सव्यसाची भट्टाचार्य कहते हैं कि आम आदमी की स्थानीय परंपराओं (little tradition) को परिष्कृत करके उच्च कोटि की महान परंपराओं (great tradition) की सृष्टि करना, प्राचीन नगरों का अवदान रहा है। इस प्रकार के नगरों जैसे मदुरै अथवा काशी को उन्होंने मूलसंभूत (ortho-genetic) नगर का नाम दिया है। इसके विपरीत औपनिवेशिक महानगरों, जैसे चेन्नेई और कोलकाता को उन्होंने अपरसंभूत (hetero-genetic) नगर का नाम दिया है। औपनिवेशिक महानगरों में प्राचीन परंपरा तथा एक दूसरी नई संस्कृति के बीच खींचतान चल रही थी। भारतीय समाज बाह्य उपनिवेश के साथ ही एक किस्म के आंतरिक उपनिवेश से भी जूझ रहा था। इस नई खींचतान में इस आंतरकि उपनिवेश का भी एक – कुछ हद तक गुप्त – पक्ष था। इसी खींचतान में आंतरिक उपनिवेश की त्रासदी के साथ संघर्ष करते हुए बाह्य उपनिवेश के वातावरण में ही ज्ञानोदय, आधुनिकता और स्वतंत्रता के त्रैत से हमारा परिचय हुआ। इसी वातावरण में हमारा राष्ट्रबोध भी सक्रिय हुआ। इस चढ़ा-उतरी में भारतीय समाज एक मरोड़ को झेल रहा था। इस सामाजिक मरोड़ के दरम्यान ही भारतीय समाजों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता उपस्थित हुई थी। आज मूलसंभूत (ortho-genetic) और

अपरसंभूत (hetero- -genetic) नगरों के साथ ही साइबर स्पेस की सिलकन घाटी में बस रहे नवनगरों से सामाजिक मरोड़ में नई ऐंठन भी आशंकित है। यह नगर इंटरनेट पर कुंभ-स्नान करवाने में अपनी क्षमता साबित करने में कामयाब रहा है। अब, इससे रोटी माँगने की जहालत अगर कोई करे तो इस दुनिया के नवनागरिक कंपुप्रभुओं की शान में गुस्ताखी ही है न! **सव्यसाची भट्टाचार्य कहते हैं, 'महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रशासनिक ढाँचों में होनेवाले किसी भी परिवर्तन का कारगर होना तब तक संदेहास्पद ही रहता है जब तक उन ढाँचो को सामाजिक ढाँचे से पुरजोर सक्रिय समर्थन न मिल पाता हो।** भारतीय समाजों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता इस दृष्टि से समझी जा सकती है कि एक-से-एक जनपक्षधर कानून के होते हुए भी उन कानूनों के सामाजिक प्रतिफलन को हासिल करने में हम विफल ही रहे हैं। फिर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जातपात के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण का असर आर्थिक स्तरीकरण पर भी अमोघ था। बंधुआ मजदूरों की जाति संबद्धता को ध्यान में रखते हुए किये जानेवाले विश्लेषण से यह बात और साफ हो सकती है।' उनिभू (उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण) की प्रक्रिया के अंतर्गत जब पूरी दुनिया एक प्रकार के आत्म-उपनिवेशीकरण के दौर से गुजर रही भारतीय सामाजिकताओं का यथार्थ और भी उलझ गया है। भारतीय सामाजिकताओं के साथ-साथ हिंदी की विभिन्न सामाजिकताओं के उलझाव तो और भी भंगुर हैं। ऐसे में अर्द्धजीवित पुराने सामाजिक निर्माण के ऊपर नये सामाजिक पुनर्निर्माण की चुनौती सामने है। राजनीतिक एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों के नेतृत्व की गुणवत्ता को देखते हुए यह काम बहुत ही कठिन दीखता है। सामाजिक नेतृत्व या तो है ही नहीं या फिर जहाँ है वहाँ अप्रभावी ही है। सांस्कृतिक नेतृत्व तो अपने-अपने व्यक्तिगत बड़प्पनों को ही सुधारने में व्यस्त है ! हमारा अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि सामाजिक समर्थन के बिना कोई भी बड़ा काम नहीं हो पाता है। लेकिन सामाजिक समर्थन तो बहला-फुसलाकर भी हासिल कर लिया जा सकता है। सोचने की बात है कि बहलाने-फुसलाने में कामयाबी नहीं मिलती तो संप्रदायवाद का इतना बड़ा उभार आज के समय में कैसे होता? धर्म के मानववादी तत्त्व को पुरोहितवादी धूर्तता कैसे बे-असर कर देती? बहलाने ओर फुसलानेवालों की पोल खोलने में हम क्यों कामयाब नहीं हो पा रहे हैं? ये सब सवाल बहुत कचोटनेवाले हैं। कचोट है, तो हम जिंदा हैं। अभी साँस बाकी है तो आस भी बाकी है। समाज मनुष्य की सब-से पुरानी संस्था है। जब सभ्यता बदलाव के किसी भी दौर के सम्मुखीन होती है, समाज उसकी ताकत बनकर उभरता है। संक्रमण

की किसी भी पीड़ा को झेलने की आंतरिक ताकत ओर दक्षता समाज की बनावट में अंतर्निहित होती है।

समाज में सच्चे धर्म और सच्चे जनतंत्र का संश्रय बनेगा। यही संश्रय धर्म के पुरोहितवादी रूप और राजतंत्र की अंतर्वस्तु को अपने ढाँचे में समेटे जनतंत्र के बीच के जटिल संश्रय से उत्पन्न आज के अशुभ-चक्र को सफलतापूर्वक तोड़ेगा। देश की नदियों को जोड़ने की अपनी जरूरत है। भावनाओं के जोड़ने का अपना महत्त्व है। इतिहास बड़ा निर्मम होता है। वह निर्ममतापूर्वक सवाल करता है। वह बार-बार सवाल करेगा कि धर्म और आतंक के सहारे समाज में भावनात्मक-विच्छेद कर सभ्यता की आत्म-गत्यात्मकता को मानवीय धूरी से विपथित कर देने का षडयंत्र जब नवपूँजीवाद रच रहा था तब हम क्या कर रहे थे?

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान